[2008] 2 उम. नि. प. 14

बापू उर्फ गजराज सिंह

बनाम

राजस्थान राज्य

4 जून, 2007

न्यायमूर्ति (डा.) अरिजीत पसायत और न्यायमूर्ति डी. के. जैन

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 84 – चित्तविकृति (विकृतचित्त व्यक्ति होने) का अभिवाक् – अभियुक्त व्यक्ति को उक्त धारा 84 के संरक्षण की उपलब्धता – शर्तें – उन्मत्तता के कारण अभियुक्त को न केवल तब धारा 84 की संरक्षा प्राप्त होती है जब वह कार्य की प्रकृति को जानने में असमर्थ हो बल्कि उस दशा में भी प्राप्त होती जब वह यह न जानता हो कि वह कार्य गलत था या विधि के प्रतिकूल था, भले ही उसे कार्य की प्रकृति का पता हो; मात्र इस तथ्य से कि अभियुक्त सनकी, अत्यंत क्रोधी है अथवा उसकी मानसिक दशा पूरी तरह ठीक नहीं है अथवा उसका व्यवहार आदि विलक्षण है, धारा 84 के अधीन संरक्षा प्रदान नहीं की जा सकती ।

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 84 – 'चित्तविकृति' – अर्थ – ऐसा प्रत्येक व्यक्ति जो मानसिक रूप से रोगी है स्वयमेव अपराधिक उत्तरदायित्व से नहीं छूट जाता है और चूंकि विधिक उन्मत्तता तथा चिकित्सीय उन्मत्तता में विभेद होता है अतः धारा 84 के लागू किए जाने के प्रयोजनार्थ न्यायालय द्वारा चिकित्सीय उन्मत्तता को विचार में नहीं लिया जाना होता है बल्कि विधिक उन्मत्तता को विचार में लिया जाना होता है ।

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 84 [सहपठित साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 105] – अभियुक्त की उन्मत्तता/चित्तविकृति के बारे में अभिवाक् – उन्मत्तता/चित्तविकृति की बाबत सबूत का भार – उक्त सबूत की प्रकृति और विस्तार – इस बात को साबित करने का भार अभियुक्त व्यक्ति पर होता है कि वह अपनी उन्मत्तता को साबित करने और इस भार का उन्मोचन साक्ष्य प्रस्तुत करके किया जा सकता है ।

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 84 – लागू होना – हेतु का न होना – हेतु के न होने का प्रभाव – विधिक उन्मत्तता का अभिवाक् न किए जाने और उस बाबत कोई सबूत न होने पर अपराध का हेतु न होने मात्र से वह मामला धारा 84 के अधीन नहीं आ जाता है ।

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 84 – उन्मत्तता/ चित्तविकृति अभियुक्त की धारा 84 की संरक्षा – धारा 84 के अधीन संरक्षा के लिए हकदारी के प्रश्न के अवधारण के लिए निर्णायक समय – संरक्षा की हकदारी के प्रश्न के अवधारण के लिए निर्णायक समय वह होता है जब अपराध किया जाता है और इस संबंध में सुसंगत परिस्थितियों को विचार में लिया जाना होता है ।

इस मामले में के अपीलार्थी का हत्या के अपराध के लिए विचारण किया गया था । विचारण के दौरान उसने यह अभिवाक् किया कि वह विकृतचित्त व्यक्ति है अतः वह दंड संहिता की धारा 84 के अधीन संरक्षा पाने का हकदार है । अभिलेख पर प्रस्तुत साक्ष्य पर विचार करने पर विचारण न्यायालय ने साक्ष्य को विश्वसनीय और तर्कसंगत पाया और तदनुसार अभियुक्त गजराज सिंह को सिद्धदोष ठहराया और दंडादिष्ट किया । विचारण के दौरान यह अभिवाक् किया गया कि अभियुक्त विकृतचित्त वाला व्यक्ति है, अतः वह दंड संहिता की धारा 84 के अधीन संरक्षा पाने का हकदार है । विचारण न्यायालय द्वारा इसे नामंजूर कर दिया गया । उच्च न्यायालय का भी यह निष्कर्ष था कि दंड संहिता की धारा 84 के लागू होने संबंधी अभिवाक् को स्वीकार नहीं किया जा सकता । उच्च न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला कि यद्यपि कुछ साक्षियों ने यहे साक्ष्य दिया कि अभियुक्त चित्तविकृति से ग्रस्त है, फिर भी महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या अभियुक्त, अपराध करने के समय, उसके द्वारा कारित कार्य की प्रकृति को समझने में असमर्थ था या वह उन्मत्तता (पागलपन) से ग्रस्त था और उसे दंड संहिता की धारा 84 के अधीन संरक्षा दी जानी चाहिए । उच्च न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला कि दंड संहिता की धारा 84 को ठीक ही लागू किया गया है । अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल ने कुछ साक्षियों के साक्ष्य को निर्दिष्ट करते हुए यह दलील दी कि अभियुक्त के दादा और चाचा भी उन्मत्तता से ग्रस्त थे, अतः विचारण न्यायालय और उच्च न्यायालय की अभियुक्त को दंड संहिता की धारा 84 के अधीन संरक्षा देने से इनकार करने की कार्रवाई उचित नहीं थी । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित — दंड संहिता की धारा 84 के अधीन कोई व्यक्ति चित्तविकृति के आधार पर किसी कार्य को करने के दायित्व से तभी विमुक्त हो सकता है यदि वह उस कार्य को करते समय (क) उस कार्य की प्रकृति जानने में असमर्थ हो, या (ख) वह यह जानने में असमर्थ हो कि जो कुछ वह कर रहा है वह दोषपूर्ण है या विधि के प्रतिकूल है । अभियुक्त को उन्मत्तता के आधार पर केवल उस दशा में संरक्षा नहीं दी गई है जब वह कार्य की प्रकृति जानने में असमर्थ हो । अपितु उसे ऐसी स्थिति में भी संरक्षा दी गई है जब उसे यह पता न हो कि जो कार्य वह कर रहा है वह दोषपूर्ण है या विधि के प्रतिकूल है भले ही वह संभवतः उस कार्य की प्रकृति को जानता हो । किंतु, उसे उस दशा में संरक्षा प्राप्त नहीं है यदि वह यह जानता है कि जो कुछ वह कर रहा था वह दोषपूर्ण था, भले ही वह यह न भी जानता हो कि वह विधि के प्रतिकूल था और यदि वह यह जानता हो कि जो कुछ वह कर रहा था वह विधि के प्रतिकूल था, भले ही वह यह न भी जानता हो कि वह दोषपूर्ण था । किसी मनोरोगी के मस्तिष्क की असामान्य स्थिति होने या आंशिक विभ्रम होने, अप्रतिरोध्य मानसिक प्रेरणा या संपीड़क व्यवहार के होने मात्र से धारा 84 के अधीन कोई भी संरक्षा नहीं मिल सकती मात्र यह तथ्य कि अभियुक्त सनकी है, अत्यंत क्रोधी है और उसकी मानसिक दशा पूरी तरह ठीक नहीं है या जिस शारीरिक और मानसिक व्याधियों से वह पीड़ित है उसके कारण उसकी बुद्धि क्रिया कमजोर हो गई है और उनसे उसके मनोभाव और इच्छा पर प्रभाव पड़ा है या भूतकाल में उसने कतिपय असामान्य कार्य किए हैं या उसे जल्दी-जल्दी उन्मत्तता के बार-बार दौरे पड़ते रहे हैं या उसे मिरगी के दौरे आते हैं किंतु उसके व्यवहार में कुछ भी असामान्य बात नहीं है अथवा यह कि उसका व्यवहार विलक्षण है, इस धारा के लागू किए जाने के संबंध में पर्याप्त नहीं हो सकता । विचारण न्यायालय के आदेश से यह दर्शित होता है कि असामान्य व्यवहार के कारण अपीलार्थी उपचाराधीन था । अपीलार्थी की माता ने यह कथन किया है कि अपीलार्थी उपचार के पश्चात् लगभग चार वर्षों तक मानसिक रूप से स्वस्थ रहा था । विचारण के दौरान भी न्यायालय के आदेशानुसार उसे उपचार के लिए भेजा गया था और उसके बाद उसका आचरण सामान्य था । ऊपर वर्णित सिद्धांतों पर विचार करते हुए, वर्तमान मामला ऐसा मामला नहीं है जिसमें दंड संहिता की धारा 84 के अधीन संरक्षा दी जा सके । अपील में कोई सार नहीं है और यह खारिज की जाती है । (पैरा 8, 11, 12, 13, 14 और 15)

दंड संहिता, 1860 की धारा 84 में अभिकथित चित्तविकृति के मामलों में उत्तरदायित्व की विधिक कसौटी अधिकथित की गई है । दंड संहिता में 'चित्तविकृति' की कोई परिभाषा नहीं दी गई है । तथापि, न्यायालय मुख्य रूप से इस अभिव्यक्ति को उन्मत्तता के समतुल्य ही मानते हैं । किंतु 'उन्मत्तता' पद की अपनी कोई भी प्रमित परिभाषा नहीं है । यह एक ऐसा पद है जिसका प्रयोग मानसिक विकार की विभिन्न डिग्रियों का वर्णन करने में किया जाता है । इसलिए, ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को, जो मानसिक रोग से ग्रस्त है, स्वतः तथ्य के आधार पर ही आपराधिक जिम्मेदारी (दायित्व) से अलग नहीं किया जा सकता । विधिक उन्मत्तता और चिकित्सीय उन्मत्तता के बीच विभेद किया जाना चाहिए । न्यायालय का सरोकार विधिक उन्मत्तता से होता है न कि चिकित्सीय उन्मत्तता से । चार प्रकार के व्यक्ति होते हैं जिन्हें विकृतचित्त वाला व्यक्ति कहा जा सकता है, अर्थात् (1) जड़ ; (2) रुग्णता से हुआ विकृतचित्त ; (3) पागल ; और (4) मत्त (मदिरा सेवी) । जड़ वह व्यक्ति होता है जिसकी स्मरण शक्ति निरंतर क्षीण रहने से जन्म से ही विकृत होती है और उसमें स्वस्थ अंतराल (अर्थात् पागलपन के बीच का वह समय जिसके दौरान रोगी स्वस्थ रहता है) नहीं होता है और जड़ उन्हें कहा जाता है जो बीस तक गिनती नहीं गिन सकते, या सप्ताह के दिनों के नाम नहीं बता सकते, या जो अपने माता-पिता और इसी प्रकार के अन्य संबंध को नहीं जानते ऐसे व्यक्ति को, जो रुग्णता के कारण विकृतचित्त हुआ है, दांडिक मामलों में उन कार्यों के लिए माफी प्रदान की जाती है जो उसने अपने इस विकार के दौरान किया है । पागल (उन्मत्त) वह है जो कतिपय समयावधि और विप्लवों के दौरान मानसिक विकार से ग्रस्त है जो बीच-बीच में स्वस्थचित्त ही रहता है और नहीं भी रहता है । 'पागलपन' स्थायी होता है । 'उन्मत्तता' और 'पागलपन' उन्मत्त हो जाने संबंधी रोग है और जड़ता प्राकृतिक (जन्मजात) रोग है । उन्मत्तता की प्रतिरक्षा से संबंधित मामलों में कार्यवाही करने में, उन मामलों में अवश्य ही विभेद किया जाना चाहिए कि किन मामलों में उन्मत्तता लगभग साबित की गई है और प्रश्न केवल गैर-जिम्मेदारी की डिग्री का होता है और किन मामलों में ऐसे व्यक्ति के बारे में, जो सर्वथा स्वस्थचित्त लगता है, उन्मत्तता साबित करने की ईप्सा की गई है । ऐसे सभी मामलों में, जिनमें पूर्ववर्ती उन्मत्तता साबित या स्वीकार की गई है, विचार करते समय कुछ बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिए । (पैरा 7 और 9)

अपनी उन्मत्तता को साबित करने का भार अभियुक्त पर होता है जो

भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 (संक्षेप में 'साक्ष्य अधिनियम') की धारा 105 के आधार पर उद्भूत होता है और यह इतना दुर्भर नहीं है जितना कि अभियोजन पक्ष के लिए यह साबित करना दुर्भर होता है कि अभियुक्त ने वही कार्य किया है जिसका उस पर आरोप लगाया गया है । अभियुक्त पर भार उससे अधिक नहीं है जो सिविल कार्यवाही में एक वादी या प्रतिवादी पर होता है । चित्तविकृति को साबित करने का भार अभियुक्त पर होता है । किंतु जहां अन्वेषण के दौरान उन्मत्तता के पूर्व इतिवृत्त का बात प्रकट की जाती हो, वहां एक ईमानदार अन्वेषक अधिकारी का यह कर्तव्य होगा कि वह अभियुक्त की चिकित्सा परीक्षा कराए और उस साक्ष्य को न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत करे और यदि ऐसा नहीं किया जाता है तो यह अभियोजन के मामले में गंभीर त्रुटि होगी और अभियुक्त को संदेह का लाभ देना पड़ेगा । तथापि, अपराध से ठीक पहले के तथा अपराध किए जाने के समय या उसके बाद के अभियुक्त के आचरण से संबंधित साक्ष्य और उसकी मानसिक दशा संबंधी साक्ष्य तथा अन्य सुसंगत कारकों को प्रस्तुत करके इस भार का उन्मोचन किया जाना चाहिए । यह उपधारणा की जाती है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्य के नैसर्गिक परिणामों को जानता है । इसी प्रकार यह उपधारणा की जाती है कि प्रत्येक व्यक्ति विधि को जानता है । अभियोजन पक्ष को इन तथ्यों को साबित करने की आवश्यकता नहीं होती है । (पैरा 7 और 8)

अपराध कितना भी नृशंस क्यों न हो, मात्र उसके लिए हेतु के न होने से विधिक उन्मत्तता के अभिवाक् और सबूत के न होने पर मामला दंड संहिता, 1860 की धारा 84 के अधीन नहीं आ सकता । (पैरा 11)

दंड संहिता, 1860 की धारा 84 में यही उपबंध किया गया है कि यह साबित किए जाने के पश्चात् ही इस बात का फायदा दिया जा सकता है कि कार्य करने के समय अभियुक्त ऐसे मानसिक रोग से ग्रस्त था जिसके कारण वह कार्य की प्रकृति और स्वरूप को, जो कुछ वह कर रहा था, जानने में असमर्थ था या वह यह भी नहीं जानता था कि उसका कार्य दोषपूर्ण या विधि के प्रतिकूल है । केवल उसी दशा में यह धारा लागू हो सकती है । इस बात का विनिश्चय करने के लिए कि क्या इस धारा का फायदा दिया जाना चाहिए या नहीं, निर्णायक समय वह तात्विक समय होता है जब अपराध घटित होता है । इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए, सुसंगत परिस्थितियों पर विचार किया जाना चाहिए, मात्र अपराध के स्वरूप से उद्भूत तर्कों के आधार पर उन्मत्तता की प्रतिरक्षा को स्वीकार करना

खतरनाक होगा । स्वाभाविकतः चित्त-विकृति ही मस्तिष्क की प्रज्ञा शक्ति को निर्बल बनाती है और आपराधिक उत्तरदायित्व से छूट का आधार हो सकता है । घटना के समय अभियुक्त की मनःस्थिति का पता लगाने के लिए उसका पूर्ववृत्त तथा घटना के पूर्व और पश्चात् उसका व्यवहार सुसंगत होता है किंतु इसका समयांतराल अधिक नहीं होना चाहिए । अपराध कारित करने के समय पर अपराधी की मनःस्थिति की प्रमित अवस्था को साबित करना कठिन होता है किंतु अपराध कारित करते समय या कारित करने के तुरंत पश्चात् अपराधी के व्यवहार से प्रायः अपराध करने का कुछ संकेत मिल जाता है । उन्मत्त व्यक्ति के स्वस्थचित्त होने का अंतराल न केवल विकार के हिंसक लक्षणों की समाप्ति होती है बल्कि वह तर्कशक्ति का इतना प्रत्यावर्तन होता है जिसके आधार पर कोई व्यक्ति पर्याप्त रूप से अपने कार्य को भली-भांति समझने में समर्थ हो जाता है ; किंतु इस अभिव्यक्ति का अर्थ आवश्यक रूप से यह नहीं है कि (अपराधी की) मस्तिष्क की स्थिति पूरी तरह से अपनी मूल स्थिति में आ गई है । इसलिए यदि ऐसा कोई प्रत्यावर्तन होता है तब संबद्ध व्यक्ति ऐसी तर्क शक्ति, स्मरण शक्ति और निर्णय लेने की शक्ति के साथ कार्य कर सकता है जो कि विधिक कार्य माना जाएगा ; किंतु विकार के हिंसक लक्षणों का मात्र समाप्त होना पर्याप्त नहीं है । (पैरा 11)

अवलंबित निर्णय

पैरा

[1972] ए. आई. आर. 1972 एस. सी. 2443 = 1972 क्रिमिनल ला जर्नल 1523 (एस.सी.) : **शेरअली वली मोहम्मद बनाम महाराष्ट्र राज्य ;** 11

[1964] ए. आई. आर. 1964 एस. सी. 1563 : **दहिया भाई बनाम गुजरात राज्य ;** 7

[1843] (1843) 4 एस. टी. टी. आर. (एन. एस.) 847 : **मैकनॉटन वाला मामला ।** 11

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2006 की दांडिक अपील सं. 1313.

2003 की डी. बी. दांडिक जेल अपील सं. 378 में राजस्थान उच्च न्यायालय, जोधपुर के तारीख 6 दिसंबर, 2004 के अंतिम निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थी की ओर से श्री सी. एन. श्रीकुमार (न्यायमित्र)

प्रत्यर्थी की ओर से सर्वश्री नवीन कुमार सिंह, मुकुल सूद, शाश्वत गुप्त और अरुणेश्वर गुप्त

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति (डा.) अरिजीत पसायत ने दिया ।

न्या. (डा.) पसायत – इस अपील में राजस्थान उच्च न्यायालय, जोधपुर की खंड न्यायपीठ के उस निर्णय को चुनौती दी गई है जिसके द्वारा अपीलार्थी द्वारा फाइल की गई अपील को खारिज किया गया था और अपीलार्थी को भारतीय दंड संहिता, 1860 (संक्षेप में 'दंड संहिता') की धारा 302 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए सिद्धदोष ठहराया गया था और आजीवन कारावास भोगने तथा 500/-रु. जुर्माने का संदाय करने, जिसका व्यतिक्रम करने पर अतिरिक्त कारावास भोगने, का दंडादेश दिया गया था । विद्वान् विशेष न्यायाधीश, अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति, (अत्याचार निवारण) और अपर सेशन न्यायाधीश, प्रतापगढ़, राजस्थान द्वारा दोषसिद्धि का आदेश अभिलिखित किया गया था ।

2. विचारण के दौरान अभियोजन पक्ष द्वारा जो पक्षकथन किया गया वह इस प्रकार है :–

तारीख 26 अगस्त, 1995 को पूर्वाह्न लगभग 8.00 बजे मीठू सिंह (अभि. सा. 1) ने चिल्लाने की आवाज सुनी, "भागो-भागो वह उसे मार देगा ।" चीखने की आवाज सुनकर वह अपीलार्थी के मकान की ओर दौड़ा जहां पर श्रीमती भंवर कंवर, श्रीमती नंद कंवर, श्रीमती जगदीश कंवर और श्रीमती मोहन कंवर जोर-जोर से चिल्ला रही थीं । श्रीमती फूल कंवर ने उसे (मीठू सिंह से) कहा कि अभियुक्त अपनी पत्नी की पिटाई कर रहा है । इत्तिला देने वाले ने छत से मकान के भीतर झांकने पर यह देखा कि अभियुक्त एक हाथ में हंसिया लिए हुए है और दूसरे हाथ में श्रीमती गोविंद कंवर (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'मृतका' कहा गया है) का कटा हुआ सर लिए हुए है । हंसिया पर रक्त लगा हुआ था और मृतका के शरीर से फर्श पर रक्त बह रहा था । राम सिंह और चैन सिंह सहित अनेक अन्य व्यक्ति भी घटनास्थल पर आ गए । सोहन लाल और उदय सिंह, जो पुलिस बल के सदस्य थे, घटनास्थल पर पहुंच गए । कांस्टेबल उदय सिंह छत पर चढ़ गया और उसने मकान के अंदर झांका । उसने भी यह पाया कि अभियुक्त मकान में खड़ा हुआ है और उसके एक हाथ में महिला का कटा हुआ सिर है और दूसरे हाथ में रक्तरंजित हंसिया है । घटनास्थल पर मौजूद व्यक्तियों

के कहने पर अभियुक्त ने दरवाजा खोल दिया और पुलिस ने उसे गिरफ्तार कर लिया ।

3. प्रतापगढ़ पुलिस थाने में अपराह्न लगभग 8.30 बजे सूचना दर्ज कराई गई । अन्वेषण के पश्चात् आरोपपत्र फाइल किया गया । इसके पश्चात् अभियोजन पक्ष के पक्षकथन के संबंध में 15 साक्षियों की परीक्षा की गई । विद्वान् विचारण न्यायाधीश ने दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (संक्षेप में 'दंड प्रक्रिया संहिता') की धारा 313 के अधीन अभियुक्त की भी परीक्षा की । पांच साक्षी अपने उन कथनों से मुकर गए जो उन्होंने अन्वेषण के दौरान पुलिस को दिए थे । तथापि, अभिलेख पर प्रस्तुत साक्ष्य पर विचार करने पर विचारण न्यायालय ने साक्ष्य को विश्वसनीय और तर्कसंगत पाया और तदनुसार अभियुक्त गजराज सिंह को सिद्धदोष ठहराया और दंडादिष्ट किया । विचारण के दौरान यह अभिवाक् किया गया कि अभियुक्त विकृतचित्त वाला व्यक्ति है, अतः वह दंड संहिता की धारा 84 के अधीन संरक्षा पाने का हकदार है । विचारण न्यायालय द्वारा इसे नामंजूर कर दिया गया । उच्च न्यायालय का भी यह निष्कर्ष था कि दंड संहिता की धारा 84 के लागू होने संबंधी अभिवाक् को स्वीकार नहीं किया जा सकता । उच्च न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला कि यद्यपि कुछ साक्षियों ने यह साक्ष्य दिया कि अभियुक्त चित्त-विकृति से ग्रस्त है, फिर भी महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या अभियुक्त, अपराध करने के समय, उसके द्वारा कारित कार्य की प्रकृति को समझने में असमर्थ था या वह उन्मत्तता (पागलपन) से ग्रस्त था और उसे दंड संहिता की धारा 84 के अधीन संरक्षा दी जानी चाहिए । उच्च न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला कि दंड संहिता की धारा 84 को ठीक ही लागू किया गया है ।

4. अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल ने कुछ साक्षियों के साक्ष्य को निर्दिष्ट करते हुए यह दलील दी कि स्वयं पुलिस पदाधिकारियों ने न्यायालय से संरक्षा मांगी थी क्योंकि वे अपीलार्थी के उग्र व्यवहार से परेशान थे । यह दलील दी गई कि अभियुक्त के दादा और चाचा भी उन्मत्तता से ग्रस्त थे, अतः विचारण न्यायालय और उच्च न्यायालय की अभियुक्त को दंड संहिता की धारा 84 के अधीन संरक्षा देने से इनकार करने की कार्रवाई उचित नहीं थी ।

5. दूसरी ओर प्रत्यर्थी-राज्य के विद्वान् काउंसेल ने विचारण न्यायालय द्वारा अभिलिखित और उच्च न्यायालय द्वारा मान्य ठहराए गए दोषसिद्धि के निर्णय का समर्थन किया है । यद्यपि विद्वान् काउंसेल के अनुसार

अभिलेख पर यह दर्शाने के लिए सामग्री है कि अभियुक्त-अपीलार्थी किसी समय चित्त-विकृति के रोग से ग्रस्त रहा था, तथापि, यह दंड संहिता की धारा 84 के लागू किए जाने के लिए पर्याप्त नहीं है । इसके अतिरिक्त अभियुक्त के पिता द्वारा यह आवेदन घटना के लगभग एक वर्ष के बाद फाइल किया गया है ।

6. हम सर्वप्रथम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि दंड संहिता की धारा 84 इस मामले के तथ्यों के प्रति लागू होती है या नहीं ।

7. धारा 84 में अभिकथित चित्तविकृति के मामलों में उत्तरदायित्व की विधिक कसौटी अधिकथित की गई है । दंड संहिता में "चित्तविकृति" की कोई परिभाषा नहीं दी गई है । तथापि, न्यायालय मुख्य रूप से इस अभिव्यक्ति को उन्मत्तता के समतुल्य ही मानते हैं । किंतु "उन्मत्तता" पद की अपनी कोई भी प्रमित परिभाषा नहीं है । यह एक ऐसा पद है जिसका प्रयोग मानसिक विकार की विभिन्न डिग्रियों का वर्णन करने में किया जाता है । इसलिए, ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को, जो मानसिक रोग से ग्रस्त है, स्वतः तथ्य के आधार पर ही आपराधिक जिम्मेदारी (दायित्व) से अलग नहीं किया जा सकता । विधिक उन्मत्तता और चिकित्सीय उन्मत्तता के बीच विभेद किया जाना चाहिए । न्यायालय का सरोकार विधिक उन्मत्तता से होता है न कि चिकित्सीय उन्मत्तता से । अपनी उन्मत्तता को साबित करने का भार अभियुक्त पर होता है जो भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 (संक्षेप में साक्ष्य अधिनियम) की धारा 105 के आधार पर उद्भूत होता है और यह इतना दुर्भर नहीं है जितना कि अभियोजन पक्ष के लिए यह साबित करना दुर्भर होता है कि अभियुक्त ने वही कार्य किया है जिसका उस पर आरोप लगाया गया है । अभियुक्त पर भार उससे अधिक नहीं है जो सिविल कार्यवाही में एक वादी या प्रतिवादी पर होता है (**दहिया भाई** बनाम **गुजरात राज्य**[1] वाला मामला देखिए) । उन्मत्तता की प्रतिरक्षा से संबंधित मामलों में कार्यवाही करने में, उन मामलों में अवश्य ही विभेद किया जाना चाहिए कि किन मामलों में उन्मत्तता लगभग साबित की गई है और प्रश्न केवल गैर जिम्मेदारी की डिग्री का होता है और किन मामलों में ऐसे व्यक्ति के बारे में, जो सर्वथा स्वस्थचित्त लगता है, उन्मत्तता साबित करने की ईप्सा की गई है । ऐसे सभी मामलों में, जिनमें पूर्ववर्ती उन्मत्तता साबित या स्वीकार की गई है, विचार करते समय कुछ बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिए ।

---

[1] ए. आई. आर. 1964 एस. सी. 1563.

विद्वान् मेने ने संक्षेप में उनका उल्लेख निम्नलिखित रूप में किया है :–

> "क्या कृत्य जानबूझकर किया गया था और उसकी तैयारी की गई थी, क्या कृत्य इस ढंग से किया गया था जिसमें उसे छिपाने की वांछा दर्शित होती हो ; क्या अपराध के पश्चात् यह दर्शित हुआ कि अपराधी को अपने दोषी होने का भान था और क्या उसने इस बात के प्रयास किए कि उसका पता न चल पाए, क्या उसने अपनी गिरफ्तारी के पश्चात् झूठे बहाने बनाए और मिथ्या कथन किए थे । इस प्रकार के सभी तथ्य तात्विक हैं क्योंकि इनका संबंध उन कसौटियों से हैं जिसके बारे में ब्रैमवाल ने एक मामले में जूरी के समक्ष यह निवेदन किया : क्या कैदी उस समय अपराध कर सकता है जब उसके अत्यंत निकट कोई पुलिसजन हो ? यह स्मरण रखना चाहिए कि ये कसौटियां ऐसे मामलों में उचित हैं जिनमें पूर्ववर्ती उन्मत्तता लगभग सिद्ध हो गई हो । ये कसौटियां जैसाकि विद्वान् मेने ने कहा है, ऐसे मामलों में सदैव विश्वसनीय होती हैं, जहांकि, "आनुमानिक उन्मत्तता" होती है ।

8. दंड संहिता की धारा 84 के अधीन कोई व्यक्ति चित्तविकृति के आधार पर किसी कार्य को करने के दायित्व से तभी विमुक्त हो सकता है यदि वह उस कार्य को करते समय (क) उस कार्य की प्रकृति जानने में असमर्थ हो, या (ख) वह यह जानने में असमर्थ हो कि जो कुछ वह कर रहा है वह दोषपूर्ण है या विधि के प्रतिकूल है । अभियुक्त को उन्मत्तता के आधार पर केवल उस दशा में संरक्षा नहीं दी गई है जब वह कार्य की प्रकृति जानने में असमर्थ हो । अपितु उसे ऐसी स्थिति में भी संरक्षा दी गई है जब उसे यह पता न हो कि जो कार्य वह कर रहा है वह दोषपूर्ण है या विधि के प्रतिकूल है भले ही वह संभवतः उस कार्य की प्रकृति को जानता हो । किंतु, उसे उस दशा में संरक्षा प्राप्त नहीं है यदि वह यह जानता है कि जो कुछ वह कर रहा था वह दोषपूर्ण था, भले ही वह यह न भी जानता हो कि वह विधि के प्रतिकूल था और यदि वह यह जानता हो कि जो कुछ वह कर रहा था वह विधि के प्रतिकूल था, भले ही वह यह न भी जानता हो कि वह दोषपूर्ण था । चित्तविकृति को साबित करने का भार अभियुक्त पर होता है । किंतु जहां अन्वेषण के दौरान उन्मत्तता के पूर्व इतिवृत्त की बात प्रकट की जाती हो, वहां एक ईमानदार अन्वेषक अधिकारी या यह कर्तव्य होगा कि वह अभियुक्त की चिकित्सा परीक्षा कराए और उस साक्ष्य को न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत करे और यदि ऐसा

नहीं किया जाता है तो यह अभियोजन के मामले में गंभीर त्रुटि होगी और अभियुक्त को संदेह का लाभ देना पड़ेगा । तथापि, अपराध से ठीक पहले के तथा अपराध किए जाने के समय या उसके बाद के अभियुक्त के आचरण से संबंधित साक्ष्य और उसकी मानसिक दशा संबंधी साक्ष्य तथा अन्य सुसंगत कारकों को प्रस्तुत करके इस भार का उन्मोचन किया जाना चाहिए । यह उपधारणा की जाती है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्य के नैसर्गिक परिणामों को जानता है । इसी प्रकार यह उपधारणा की जाती है कि प्रत्येक व्यक्ति विधि को जानता है । अभियोजन पक्ष को इन तथ्यों को साबित करने की आवश्यकता नहीं होती है ।

9. चार प्रकार के व्यक्ति होते हैं जिन्हें विकृतचित्त वाला व्यक्ति कहा जा सकता है, अर्थात् (1) जड़ ; (2) रुग्णता से हुआ विकृतचित्त ; (3) पागल और (4) मत्त (मदिरा सेवी) । जड़ वह व्यक्ति होता है जिसकी स्मरण शक्ति निरंतर क्षीण रहने से जन्म से ही विकृत होती है और उसमें स्वस्थ अंतराल (अर्थात् पागलपन के बीच का वह समय जिसके दौरान रोगी स्वस्थ रहता है) नहीं होता है और जड़ उन्हें कहा जाता है जो बीस तक गिनती नहीं गिन सकते, या सप्ताह के दिनों के नाम नहीं बता सकते, या जो अपने माता-पिता और इसी प्रकार के अन्य संबंध को नहीं जानते (अर्कबोल्ड्स क्रिमिनल प्लीडिंग्स, एविडेन्स एंड प्रैक्टिस, 35वां संस्करण, पृष्ठ 31-32 ; रसैल ऑन क्राइम्स एंड मिसडिमीनर्स, 12वां संस्करण, भाग-1, पृष्ठ 105 ; हालाज़, प्लीज़ ऑफ द् ग्राउन 34 नामक पुस्तकें देखिए) । ऐसे व्यक्ति को, जो रुग्णता के कारण विकृतचित्त हुआ है, दांडिक मामलों में उन कार्यों के लिए माफी प्रदान की जाती है जो उसने अपने इस विकार के दौरान किया है, (1 हेल पी. सी. 30 देखिए) । पागल (उन्मत्त) वह है जो कतिपय समयावधि और विप्लवों के दौरान मानसिक विकार से ग्रस्त है जो बीच-बीच में स्वस्थ-चित्त ही रहता है और नहीं भी रहता है (रसैल की उक्त पुस्तक के 12वें संस्करण के भाग-1 का पृष्ठ 103 और हेंल पी. सी. 31 देखिए) । 'पागलपन' स्थायी होता है । 'उन्मत्तता' और 'पागलपन' उन्मत्त हो जाने संबंधी रोग है और जड़ता प्राकृतिक (जन्मजात) रोग है ।

10. दंड संहिता की धारा 84 में दांडिक विधि का मूल सूत्र सन्निविष्ट है अर्थात् 'कोई कृत्य स्वयं किसी व्यक्ति को अपराधी नहीं बनाता है यदि उसका मन भी अपराधी न हो' । अपराध गठित करने के लिए आशय और कृत्य अवश्यक होना चाहिए ; किंतु उन्मत्त व्यक्तियों के मामले में, उन पर कोई भी अपराधिता मढ़ी नहीं जा सकती है क्योंकि उनकी कोई स्वतंत्र

इच्छा नहीं होती है ।

11. इस धारा में ही यह उपबंध किया गया है कि यह साबित किए जाने के पश्चात् ही इस बात का फायदा दिया जा सकता है कि कार्य करने के समय अभियुक्त ऐसे मानसिक रोग से ग्रस्त था जिसके कारण वह कार्य की प्रकृति और स्वरूप को, जो कुछ वह कर रहा था, जानने में असमर्थ था या वह यह भी नहीं जानता था कि उसका कार्य दोषपूर्ण या विधि के प्रतिकूल है । केवल उसी दशा में यह धारा लागू हो सकती है । इस बात का विनिश्चय करने के लिए कि क्या इस धारा का फायदा दिया जाना चाहिए या नहीं, निर्णायक समय वह तात्विक समय होता है जब अपराध घटित होता है । इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए, सुसंगत परिस्थितियों पर विचार किया जाना चाहिए, मात्र अपराध के स्वरूप से उद्भूत तर्कों के आधार पर उन्मत्तता की प्रतिरक्षा को स्वीकार करना खतरनाक होगा । स्वाभाविकतः चित्त-विकृति ही मस्तिष्क की प्रज्ञा शक्ति को निर्बल बनाती है और आपराधिक उत्तरदायित्व से छूट का आधार हो सकता है । हिस्ट्री ऑफ क्रिमिनल लॉ ऑफ इंग्लैंड, नामक पुस्तक के खंड-II के पृष्ठ 166 पर विद्वान् स्टीफेन ने यह मत व्यक्त किया है कि यदि कोई व्यक्ति सोते हुए व्यक्ति का सिर यह सोच कर काट देता है कि जब वह जागकर अपना सिर ढूंढेगा तो मजा आएगा, तब यह स्पष्टतया एक ऐसा मामला है जिसमें अपराध करने वाला अपने कार्य के भौतिक प्रभावों को जानने में असमर्थ होता है । विधि में केवल कार्य की प्रकृति का अहसास करने की अक्षमता को मान्यता प्रदान की गई है और उसमें यह उपधारणा की जाती है कि जब मनुष्य का मस्तिष्क या उसकी तर्क-शक्ति की क्षमता इस बात को समझने के लिए इतनी कम हो कि वह क्या कर रहा है तब सदैव यह उपधारणा की जानी चाहिए कि जो कार्य उसने किया है वह ऐसा ही करना चाहता था । अपराध कितना भी नृशंस क्यों न हो, मात्र उसके लिए हेतु के न होने से विधिक उन्मत्तता के अभिवाक् और सबूत के न होने पर मामला इस धारा के अधीन नहीं आ सकता । इस न्यायालय ने **शेरअली वली मोहम्मद** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**[1] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया कि मात्र इस तथ्य से कि इस संबंध में कोई भी हेतु साबित नहीं किया गया है कि अभियुक्त ने अपनी पत्नी और बच्चे की हत्या क्यों की थी अथवा इस तथ्य से कि उसने उस समय भागने का कोई प्रयास नहीं किया जब दरवाजा तोड़कर खोला गया था, यह उपदर्शित

---

[1] ए. आई. आर. 1972 एस. सी. 2443 = 1972 क्रिमिनल ला जर्नल 1523 (एस.सी.).

नहीं होता कि वह उन्मत्त था या उसकी अपराध करने के लिए आवश्यक आपराधिक मनःस्थिति नहीं थी । किसी मनोरोगी के मस्तिष्क की असामान्य स्थिति होने या आंशिक विभ्रम होने, अप्रतिरोध्य मानसिक प्रेरणा या संपीड़क व्यवहार के होने मात्र से धारा 84 के अधीन कोई भी संरक्षा नहीं मिल सकती क्योंकि उस धारा में अंतर्विष्ट विधिपूर्णतया मैक्नॉटन रूल्स ऑफ नाइनटीन्थ सेन्चुरी इंग्लैंड नामक पुस्तक पर आधारित है जो अब पुरानी हो चुकी है । धारा 84 के उपबंध सारतः ऐसे ही हैं जैसे **मैकनॉटन वाले मामले**[1] में हाउस ऑफ लार्ड्स द्वारा न्यायाधीशों के समक्ष रखे गए प्रश्नों से संबंधित उनके उत्तर में अधिकथित किए गए हैं । घटना के समय अभियुक्त की मनःस्थिति का पता लगाने के लिए उसका पूर्ववृत्त तथा घटना के पूर्व और पश्चात् उसका व्यवहार सुसंगत होता है किंतु इसका समयांतराल अधिक नहीं होना चाहिए । अपराध कारित करने के समय पर अपराधी की मनःस्थिति की प्रमित अवस्था को साबित करना कठिन होता है किंतु अपराध कारित करते समय या कारित करने के तुरंत पश्चात् अपराधी के व्यवहार से प्रायः अपराध करने का कुछ संकेत मिल जाता है । उन्मत्त व्यक्ति के स्वस्थचित्त होने का अंतराल न केवल विकार के हिंसक लक्षणों की समाप्ति होती है बल्कि वह तर्कशक्ति का इतना प्रत्यावर्तन होता है जिसके आधार पर कोई व्यक्ति पर्याप्त रूप से अपने कार्य को भलीभांति समझने में समर्थ हो जाता है ; किंतु इस अभिव्यक्ति का अर्थ आवश्यक रूप से यह नहीं है कि (अपराधी की) मस्तिष्क की स्थिति पूरी तरह से अपनी मूल स्थिति में आ गई है । इसलिए यदि ऐसा कोई प्रत्यावर्तन होता है तब संबद्ध व्यक्ति ऐसी तर्क शक्ति, स्मरण शक्ति और निर्णय लेने की शक्ति के साथ कार्य कर सकता है जो कि विधिक कार्य माना जाएगा ; किंतु विकार के हिंसक लक्षणों का मात्र समाप्त होना पर्याप्त नहीं है ।

12. जो मापदंड अपनाया जाना चाहिए वह यह है कि क्या समझदार व्यक्तियों द्वारा अपनाए गए साधारण मानदंड के अनुसार वह कार्य सही था या गलत था । मात्र यह तथ्य कि अभियुक्त सनकी है, अत्यंत क्रोधी है और उसकी मानसिक दशा पूरी तरह ठीक नहीं है या जिस शारीरिक और मानसिक व्याधियों से वह पीड़ित है उसके कारण उसकी बुद्धि क्रिया कमजोर हो गई है और उनसे उसके मनोभाव और इच्छा पर प्रभाव पड़ा है या भूतकाल में उसने कतिपय आसामान्य कार्य किए हैं या उसे जल्दी-

---

[1] (1843) 4 एस. टी. टी. आर. (एन. एस.) 847.

जल्दी उन्मत्तता के बार-बार दौरे पड़ते रहे हैं या उसे मिरगी के दौरे आते हैं किंतु उसके व्यवहार में कुछ भी असामान्य बात नहीं है अथवा यह कि उसका व्यवहार विलक्षण है, इस धारा के लागू किए जाने के संबंध में पर्याप्त नहीं हो सकता ।

13. विचारण न्यायालय के आदेश से यह दर्शित होता है कि असामान्य व्यवहार के कारण अपीलार्थी उपचाराधीन था । अपीलार्थी की माता (अभि. सा. 8) ने यह कथन किया है कि अपीलार्थी उपचार के पश्चात् लगभग चार वर्षों तक मानसिक रूप से स्वस्थ रहा था । विचारण के दौरान भी न्यायालय के आदेशानुसार उसे उपचार के लिए भेजा गया था और उसके बाद उसका आचरण सामान्य था ।

14. पृष्ठभूमिक तथ्यों के संबंध में ऊपर उपवर्णित सिद्धांतों पर विचार करते हुए, वर्तमान मामला ऐसा मामला नहीं है जिसमें दंड संहिता की धारा 84 के अधीन संरक्षा दी जा सके । तथापि, जब भी कभी जेल प्राधिकारी यह महसूस करें कि अपीलार्थी को उपचार की आवश्यकता है, तो उसका तत्काल उपचार कराया जाए और बेहतर होगा कि उसका उपचार मान सिंह मेडिकल हॉस्पिटल, जयपुर में कराया जाए । जहां पर उसका इससे पहले उपचार कराया गया था या किसी अन्य ख्याति प्राप्त मानसिक रोग अस्पताल में कराया जाए ।

15. अपील में कोई सार नहीं है और यह खारिज की जाती है ।

अपील खारिज की गई ।

अस./ज़.